कला शिक्षा और सांस्कृतिक चेतना
नई पीढ़ी के निर्माण की दिशा

पिछले दिनों लखनऊ स्थित 'लखनऊ पब्लिक वर्ल्ड स्कूल' द्वारा फ्लोरेसेंस आर्ट गैलरी के सहयोग से 'नन्हें हाथ, बड़ी रचनाएं' शीर्षक से एक रचनात्मक क्ले मॉडलिंग कार्यशाला का आयोजन किया गया। इस कार्यशाला का उद्देश्य छोटे विद्यार्थियों को मिट्टी जैसे सहज और अभिव्यक्तिपूर्ण माध्यम से रचनात्मकता, कल्पनाशीलता तथा स्पर्श-आधारित सीखने की प्रक्रिया से जोड़ना था। कला शिक्षा के क्षेत्र में इस प्रकार की कोई भी पहल केवल एक गतिविधि भर नहीं होती, बल्कि वे बच्चों के व्यक्तित्व विकास, संवेदनात्मक जागरूकता और सृजनात्मक सोच को विकसित करने का महत्वपूर्ण माध्यम भी बनती है।

सुमन कुमार सिंह
कलाकार/कला लेखक

बच्चों के समग्र विकास का आवश्यक हिस्सा

वास्तव में हाल के वर्षों में यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही है कि विद्यालयों और महाविद्यालयों में स्थानीय स्तर पर कला एवं संस्कृति से जुड़े आयोजनों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। आज कला प्रदर्शनी, कला कार्यशालाएं, लोककला शिविर, संगीत एवं नाट्य आयोजन जैसे कार्यक्रम अब केवल बड़े सांस्कृतिक केंद्रों अथवा केवल महानगरों तक सीमित नहीं रह गए हैं, बल्कि छोटे शहरों और जिलों में भी सक्रिय रूप से आयोजित हो रहे हैं। एक ओर शिक्षा संस्थान अब यह समझने लगे हैं कि कला शिक्षा बच्चों के समग्र विकास का आवश्यक हिस्सा है, वहीं दूसरी ओर राज्य और केंद्र सरकार की सांस्कृतिक नीतियों ने भी इस दिशा में वातावरण तैयार किया है। उदाहरण के लिए बिहार में सरकार द्वारा प्रत्येक जिले में सांस्कृतिक पदाधिकारी की नियुक्ति की पहल ने स्थानीय स्तर पर कला-सांस्कृतिक गतिविधियों को नई गति दी है। इन पदाधिकारियों की भूमिका केवल औपचारिक कार्यक्रम आयोजित करने तक सीमित नहीं है, बल्कि वे स्थानीय कलाकारों, लोककलाओं और सांस्कृतिक परंपराओं को मंच उपलब्ध कराने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप विभिन्न जिलों में लोक नृत्य, लोक संगीत, चित्रकला, शिल्प और नाट्यकला से जुड़े कार्यक्रम नियमित रूप से आयोजित हो रहे हैं। इससे जहां एक ओर स्थानीय कलाकारों व प्रतिभाओं को अपनी कला प्रस्तुत करने का अवसर मिल रहा है, वहीं दूसरी ओर समाज के विभिन्न वर्गों में कला के प्रति रुचि और संवेदनशीलता का विकास भी हो रहा है।

महापुरुषों का दृष्टिकोण

भारतीय संदर्भ में कला और संस्कृति को राष्ट्रनिर्माण की प्रक्रिया से अलग करके नहीं देखा जा सकता। इस संदर्भ में देश के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद का दृष्टिकोण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के प्रबल समर्थक थे और उनका मानना था कि किसी भी राष्ट्र की आत्मा उसकी संस्कृति में निहित होती है। अपने लेखों और भाषणों में उन्होंने इस बात पर बल दिया कि भारत की सांस्कृतिक परंपराएं- चाहे वे लोक कलाओं में हों या शास्त्रीय कलाओं में हमारी राष्ट्रीय पहचान की आधारशिला हैं। उनका मानना था कि जब कोई समाज अपनी सांस्कृतिक जड़ों से कट जाता है, तो उसकी राष्ट्रीय चेतना भी कमजोर पड़ जाती है।

इसी विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने भी कला और संस्कृति को राष्ट्र के बौद्धिक और सामाजिक विकास का महत्वपूर्ण आधार माना। उन्होंने कहा था कि किसी भी सभ्यता की वास्तविक पहचान उसकी कला, साहित्य और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों में दिखाई देती है। नेहरू के समय में ही अनेक राष्ट्रीय सांस्कृतिक संस्थानों की स्थापना हुई, जिनका उद्देश्य भारतीय कला और परंपराओं के संरक्षण तथा प्रसार को सुनिश्चित करना था। इसी प्रकार राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का मानना था कि भारतीय ग्राम्य जीवन में विकसित कला और शिल्प परंपराएं केवल सौंदर्यबोध की अभिव्यक्ति नहीं हैं, बल्कि वे समाज की आत्मनिर्भरता, श्रम-सम्मान और सांस्कृतिक स्वाभिमान की भी परिचायक हैं। इन विचारों के आलोक में देखा जाए, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कला शिक्षा केवल सौंदर्यबोध विकसित करने का माध्यम नहीं है, बल्कि यह समाज में संवेदनशीलता, रचनात्मकता और सांस्कृतिक चेतना को विकसित करने का भी महत्वपूर्ण साधन है। यदि बच्चों को प्रारंभिक स्तर से ही कला और संस्कृति से जोड़ा जाए, तो उनमें न केवल रचनात्मक सोच का विकास होता है, बल्कि वे अपने समाज और

परंपराओं के प्रति भी अधिक जागरूक बनते हैं। इसी कारण आज यह आवश्यकता और भी अधिक महसूस की जा रही है कि प्राथमिक कक्षाओं से ही छात्रों में कला एवं संस्कृति के प्रति रुचि विकसित की जाए। चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत, नृत्य और लोकशिल्प जैसी गतिविधियों को विद्यालयी शिक्षा के साथ समन्वित करने से बच्चों को अपनी अभिव्यक्ति के विविध माध्यम मिलते हैं। इसके साथ-साथ वे भारतीय सांस्कृतिक विरासत से भी परिचित होते हैं। अंततः यह कहा जा सकता है कि कोई भी राष्ट्र अपनी कला और संस्कृति को अक्षुण्ण रखते हुए ही वैश्विक मंच पर सम्मानजनक उपस्थिति दर्ज करा सकता है।

ऐसे में विद्यालयों, सांस्कृतिक संस्थानों, स्थानीय समाज और सरकारों की यह साझा जिम्मेदारी बनती है कि वे कला शिक्षा को प्रोत्साहित करें और नई पीढ़ी को अपनी सांस्कृतिक धरोहर से जोड़ने के लिए ठोस प्रयास करें। क्योंकि इस प्रयास में आयोजित छोटी-छोटी कार्यशालाएं और सांस्कृतिक गतिविधियां भविष्य में एक सशक्त सांस्कृतिक समाज की नींव तैयार करती हैं।

अनोखी परंपरा

तोप की गूंज से मिलता सहरी का पैगाम

राजस्थान के अजमेर शहर में पवित्र रमजान माह के दौरान एक अनोखी और ऐतिहासिक परंपरा आज भी जीवित है। आधुनिक तकनीक और मोबाइल अलार्म के इस दौर में भी यहां सदियों पुरानी एक परंपरा लोगों को सहरी के लिए जगाने का काम करती है। जैसे ही रात गहराती है और शहर शांत नींद में डूब जाता है, तभी बड़ी पीर पहाड़ी की ओर से एक तेज और गूंजदार धमाके की आवाज सुनाई देती है। यह कोई सामान्य आवाज नहीं, बल्कि उस ऐतिहासिक तोप का धमाका होता है, जो रोजेदारों को सहरी के समय का संकेत देता है। तोप की यह आवाज सुनते ही शहर के कई इलाकों में लोग जाग जाते हैं और सहरी की तैयारी में लग जाते हैं।

यह परंपरा अजमेर की विश्व प्रसिद्ध अजमेर शरीफ दरगाह से जुड़ी हुई है। दरगाह परिसर के समीप स्थित बड़ी पीर पहाड़ी से रमजान के पूरे महीने हर रोज तोप दागी जाती है। इसकी गूंज दूर-दूर तक सुनाई देती है और यह आवाज रोजेदारों के लिए अलार्म का काम करती है। इस ऐतिहासिक जिम्मेदारी को निभाने वाली शख्सियत हैं फौजिया खान, जिन्हें अजमेर में लोग स्नेहपूर्वक 'तोपची' के नाम से जानते हैं। इस परंपरा की खास बात यह है कि इसे निभाने का जिम्मा एक महिला के हाथों में है, जो इसे और भी विशिष्ट बना देता है। फौजिया खान बताती हैं कि रमजान के दौरान मुसलमान सूर्योदय से पहले सहरी करते हैं और उसके बाद दिनभर रोजा रखते हैं, जो सूर्यास्त के समय इफ्तार के साथ खोला जाता है। सहरी का समय सीमित होता है, इसलिए लोगों को समय पर जगाने के लिए यह परंपरा शुरू की गई थी।

इतिहासकारों के अनुसार, तोप चलाने की यह परंपरा मुगल काल से चली आ रही है। उस समय घड़ियों और आधुनिक साधनों का अभाव था, इसलिए लोगों को समय का संकेत देने के लिए इस तरह के तरीके अपनाए जाते थे। अजमेर में यह परंपरा आज भी उसी श्रद्धा और अनुशासन के साथ निभाई जा रही है। दिलचस्प बात यह भी है कि अजमेर शरीफ दरगाह में होने वाली कई महत्वपूर्ण रस्मों की शुरुआत भी इसी तोप के धमाके से होती है। गरीब नवाज के उर्स के आगाज का संकेत भी इसी तोप की आवाज से दिया जाता है। प्रशासन और पुलिस की निगरानी में यह परंपरा हर वर्ष सुरक्षित रूप से निभाई जाती है। रमजान के दौरान अजमेर की यह परंपरा न केवल धार्मिक आस्था का प्रतीक है, बल्कि शहर की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत और इतिहास की जीवंत झलक भी प्रस्तुत करती है।

आर्ट गैलरी

हजारों साल पुरानी रॉक पेंटिंग

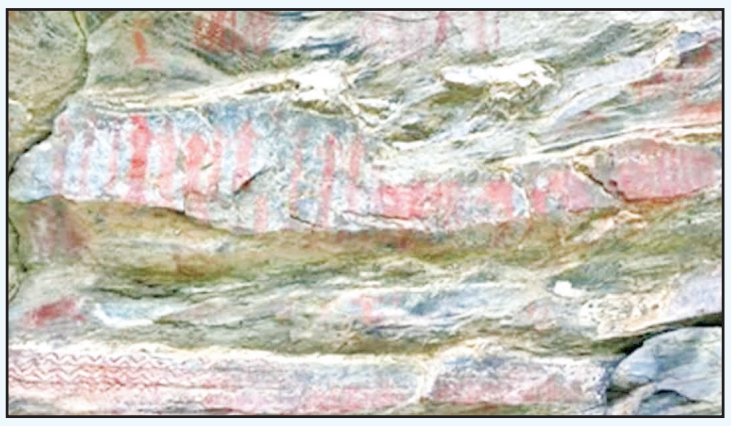

'उत्तराखंड के अल्मोड़ा जनपद में अल्मोड़ा-पिथौरागढ़ मार्ग पर नगर से 14 किलोमीटर आगे पेटशाल गांव में नदी के किनारे स्थित है - लखुडियार। लखुडियार का शाब्दिक अर्थ है 'एक लाख (लख) गुफाएं (उडियार)। यह एक प्रागैतिहासिक शैलाश्रय (रॉक शेल्टर) है, जो शैल चित्रण के लिए प्रसिद्ध है। माना जाता है कि यह शैल चित्र लगभग 6000 वर्ष पुराने हैं और उस समय के आदिमानव द्वारा इन विशाल शिलाओं में बनाए गए थे। लखुडियार की खोज 1968 में डॉ .एमपी जोशी ने की थी। इस खोज के बाद अल्मोड़ा जिले के फड़कनौली, कलामाटी, मल्ला पनेली आदि स्थानों पर भी रॉक आश्रयों की खोज की गई। ये शैलाश्रय भौगोलिक दृष्टि से कालामाटी- दीनापानी पर्वत श्रृंखला की पूर्वी दिशा में लगभग 15 किलोमीटर के दायरे में केंद्रित है। ये शैल चित्र उस समय के दैनिक जीवन, शिकार और सभ्यता को दर्शाते हैं। मुख्य सड़क से लगभग 25 मीटर अंदर सर्प के फन के समान आकृति की विशाल शिला में प्रागैतिहासिक मानव चित्रण कला का उत्कृष्ट अंकन मिलता है। चित्रों में अधिकांश मानव चित्रण के साथ साथ कहीं-कहीं पर पेड़ों तथा पशुओं की आकृति का चित्रण भी है। अलंकरण के लिए लहरदार रेखाओं और बिंदुओं का बखूबी इस्तेमाल किया गया है। लहरदार रेखाओं को इतिहासकार नदी की लहरों के रूप में पहचानते हैं, तो कुछ इसे सर्प की आकृति बताते हैं।

दीपक नौगांई
लेखक

यहां पर छतनुमा चट्टान फर्श से बहुत आगे निकली हुई है। स्थल को देखकर लगता है कि अग्रभाग लगभग चार-पांच मीटर टूट चुका है। इस शिला में अधिकतर चित्र गहरे गेरुए रंग में बने हैं। कहीं-कहीं पर हल्के काले और सफेद रंग से बने चित्र भी दिखाई देते हैं। चित्रों की विषय वस्तु में मुख्यतः पंक्तिबद्ध मानव, पशु, वृक्ष, ज्यामितीय नमूने और आखेटीय चित्र हैं। मानव आकृतियां पंक्तिबद्ध में एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए चित्रित किए गए हैं। कहीं एक पंक्ति में दस तथा कहीं इससे कम मानव आकृतियां अंकित हैं। इसकी विशेषता यह है कि प्रथम मानव से अंतिम मानव एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए छोटे होते जा रहे हैं। शिला में ऐसे चित्रण भी हैं, जहां पंक्तिबद्ध मानव एक दूसरे का हाथ नहीं पकड़े हुए हैं। प्रथम दृश्य में ये मानव अपने हाथ में कोई वस्तु धारण किए हुए हैं। संभवत यह आखेट का चित्रण है। लखुडियार के चित्रों में मानव तथा वृक्षों के चित्र समान आकृति के प्रतीत होते हैं। किंतु मानव आकृतियों में स्पष्ट रूप से गर्दन सहित शीर्ष बनाया गया है। कहीं-कहीं मानव आकृतियों में सिर पर पीछे की ओर लंबे बालों के जुड़े अथवा चोटी बनाई गई है। संभवतः यह नारी की आकृति है। इन शैल चित्रों को देखकर लगता है कि तत्कालीन मानव ने अभिव्यक्ति के लिए भाषा से पहले कला का प्रयोग किया होगा। लखुडियार में प्राप्त शैल चित्रण से स्पष्ट है कि कुमाऊं क्षेत्र प्रागैतिहासिक काल से ही मानव गतिविधियों का केंद्र रहा है। पुरातत्व विभाग ने 1992 में लखुडियार को अपने सरंक्षण में तो ले लिया, पर इसे सुरक्षित और सहेजकर रखने के कोई इंतजाम नहीं किए है। मानवीय हस्तक्षेप तथा प्राकृतिक कारणों से अधिकांश चित्रण धूमिल हो गए हैं। यह स्थान इतिहासविद और प्रकृति प्रेमियों के लिए एक महत्वपूर्ण आकर्षण का केंद्र है, जो हमें पाषाण युग की कलात्मक अभिव्यक्ति से जोड़ता है। आज इस अद्भुत शैल चित्रण को संरक्षित और बचाने की जरूरत है।

लोकायन

कलाबाजी, संगीत और आस्था का संगम

उत्तराखंड की समृद्ध लोक संस्कृति में अनेक पारंपरिक नृत्य रूप शामिल हैं, जो यहां की आस्था, जीवनशैली और सामुदायिक उत्सवों को जीवंत बनाते हैं। इन्हीं में से एक है लांगवीर नृत्य, जो राज्य के टिहरी गढ़वाल क्षेत्र में विशेष रूप से प्रसिद्ध है। अपनी अनोखी शैली और रोमांचक प्रस्तुति के कारण यह नृत्य दर्शकों के लिए बेहद आकर्षक और यादगार अनुभव बन जाता है।

लांगवीर नृत्य की सबसे खास बात यह है कि यह सामान्य लोक नृत्यों से अलग एक प्रकार का कलाबाजी प्रधान नृत्य है। इसे परंपरागत रूप से केवल पुरुष कलाकार ही प्रस्तुत करते हैं। इस नृत्य की शुरुआत एक लंबे और मजबूत बांस के खंभे को जमीन में गाड़कर की जाती है। इसके बाद नर्तक बड़ी फुर्ती और कौशल के साथ उस खंभे पर चढ़ता है और ऊपर पहुंचकर अपनी नाभि के सहारे संतुलन बनाते हुए खड़ा हो जाता है। नर्तक का यह संतुलन ही इस नृत्य की सबसे चुनौतीपूर्ण और रोमांचक विशेषता है। खंभे के ऊपर पहुंचने के बाद कलाकार धीरे-धीरे अपने शरीर को संतुलित करते हुए गोल-गोल घूमता है और हाथ-पैरों की सहायता से विभिन्न कलाबाजी के करतब दिखाता है। यह दृश्य दर्शकों को रोमांच से भर देता है और नर्तक की शारीरिक क्षमता तथा अभ्यास का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करता है। नृत्य के दौरान नीचे खड़े संगीतकार ढोल और दमाना जैसे पारंपरिक वाद्ययंत्र बजाते हैं। इन वाद्यों की ताल और लय के साथ नर्तक अपने करतबों को और भी प्रभावशाली बना देता है।

लांगवीर नृत्य केवल मनोरंजन का माध्यम ही नहीं है, बल्कि इसका धार्मिक और सांस्कृतिक महत्व भी है। लोकमान्यता के अनुसार इस नृत्य का उद्देश्य नाटक, संगीत और कलाबाजी के माध्यम से देवताओं का मनोरंजन करना और उनके प्रति श्रद्धा व्यक्त करना है। इसलिए इसे अक्सर मेलों, पर्व-त्योहारों और धार्मिक आयोजनों के दौरान प्रस्तुत किया जाता है। खंभे के ऊपर पेट के बल संतुलन बनाते हुए घूमते कलाकार को देखना दर्शकों के लिए अत्यंत रोमांचक अनुभव होता है। यही कारण है कि लांगवीर नृत्य उत्तराखंड सांस्कृतिक पहचान का महत्वपूर्ण हिस्सा बना हुआ है।

प्रकृति का सूक्ष्म संगीत और चैत्र

चैत्र और वसंत के संधिकाल में जब प्रकृति अपने नवजीवन की आभा से भर उठती है, तब आम के वृक्षों पर आने वाले बौर एक अद्भुत सौंदर्य और सुगंध का संसार रच देते हैं। यह दृश्य केवल एक वृक्ष के फूलने का नहीं, बल्कि पूरे परिवेश के जाग्रत होने का संकेत है। आम के बौर, जो सूक्ष्म और कोमल पुष्पों के गुच्छों के रूप में शाखाओं पर झूलते दिखाई देते हैं, प्रकृति के उस सूक्ष्म सौंदर्य का प्रतीक हैं, जिसे देखने के लिए संवेदनशील दृष्टि और अनुभवशील मन की आवश्यकता होती है। डालियों पर फैले छोटे-छोटे पुष्पों का यह गुच्छा किसी कलाकार की सूक्ष्म रचना जैसा प्रतीत होता है। प्रत्येक कली और फूल जीवन की उस संभावना का प्रतीक है, जो आगे चलकर मीठे और रसपूर्ण फलों का रूप लेती है। यही कारण है कि भारतीय ग्रामीण जीवन में आम के बौर को केवल एक वनस्पतिक घटना नहीं माना जाता, बल्कि इसे समृद्धि और आशा के आगमन का संकेत भी समझा जाता है। आम के वृक्षों पर जब बौर आते हैं, तब वातावरण में एक विशिष्ट प्रकार की मादक सुगंध फैल जाती है। यह सुगंध इतनी सूक्ष्म होती है कि वह हवा के साथ बहते हुए धीरे-धीरे मन के भीतर तक उतर जाती है। ग्रामीण अंचलों में यह समय विशेष उल्लास का होता है, क्योंकि आम के बौर आने का अर्थ है कि प्रकृति अपने अगले मधुर फल की तैयारी कर रही है। किसान और ग्रामीण जन इसे आने वाले फलों की पहली आहट के रूप में अनुभव करते हैं। छोटे-छोटे फूलों से भरी यह शाखाएं यह भी बताती है कि प्रकृति की महानता उसकी विराटता में ही नहीं, बल्कि उसकी सूक्ष्मता में भी छिपी हुई है। भारतीय काव्य और लोकपरंपरा में आम के बौर का विशेष महत्व रहा है। कवियों ने इसे प्रेम, सौंदर्य और नवजीवन के प्रतीक के रूप में चित्रित किया है। लोकगीतों में भी बौराए आम का उल्लेख अक्सर मिलता है, जहां यह ऋतु के परिवर्तन और मन के उल्लास का संकेत बन जाता है। जब वसंत की बयार इन बौरों को हल्के से स्पर्श करती है, तब वे झूमते हुए मानो प्रकृति के संगीत पर थिरकने लगते हैं। इस प्रकार यह छोटा-सा बौर केवल एक फूलों का गुच्छा नहीं, बल्कि प्रकृति की उस चिरंतन प्रक्रिया का प्रतीक है, जिसमें हर वर्ष जीवन नए रूप में जन्म लेता है। यह हमें यह भी स्मरण कराता है कि हर नई शुरुआत पहले एक सूक्ष्म कली के रूप में ही जन्म लेती है और समय के साथ वह फलित होकर जीवन को मधुरता से भर देती है।